RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17, अंक-1, दिसम्बर 2023 जनवरी फरवरी 2024

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17 अंक - 1 दिसम्बर 2023-जनवरी-फरवरी-2024

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** – पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** – प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** – प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** – पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** – पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** – सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** – पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** – आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** – पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

महर्षि दयानन्द के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के तत्वों की विवेचना

रितु सारस्वत
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

धार्मिक परिस्थितियाँ

महर्षि दयानन्द के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना उस समय की धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा से उभरती है। उन्नीसवीं शताब्दी में धर्म अन्धविश्वास और कर्मकाण्डों में बँधकर अपनी मूल शिक्षाओं से दूर हो चुका था। दयानन्द ने देखा कि महाभारत के बाद विद्वानों के नष्ट होने से वेदों का अर्थ सहित अध्ययन लुप्त हो गया और धर्म केवल जीविका और पाखण्ड में बदल गया। इस स्थिति ने समाज में भ्रम, विभाजन और नैतिक पतन उत्पन्न किया।

अपने साहित्य में दयानन्द धार्मिक शुद्धि को ही राष्ट्रनिर्माण का आधार मानते हैं। वेद-ज्ञान को पुनर्जीवित कर वे भारतीय समाज को सत्य, ज्ञान और नैतिकता की ओर मोड़ते हैं। यह धर्म-सुधार वस्तुतः राष्ट्रीय पुनर्जागरण है क्योंकि इससे शिक्षा, समता, सामाजिक एकता और आत्मगौरव का संचार होता है। उनके विचार न केवल अन्धविश्वासों का खंडन करते हैं, बल्कि लोगों में सांस्कृतिक जागृति और स्वाभिमान उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार उनका साहित्य भारतीय समाज को भीतर से सशक्त कर राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह तैयार करता है।

(1) वैदिक धर्म का ह्रास :- दयानन्द के मत में भारतीय धर्म अपनी वैदिक शुद्धता खो चुका था। अनेक सम्प्रदायों, पौराणिक मतों और शैव-वैष्णव-शाक्त विभाजनों के कारण धर्म में एकता समाप्त हो गई थी। वेद का स्थान लोकायतिक आस्थाओं ने ले लिया था और पूजा-पद्धतियाँ मूल वैदिक सिद्धांतों से भटककर कर्मकाण्ड तथा मतभेदों में उलझ गई थीं। कोई सर्वमान्य ग्रन्थ न होने से धार्मिक मतभेद ने राष्ट्रीय चेतना को कमजोर कर दिया था।

(2) मूर्ति-पूजा की स्थिति :- मूर्तिपूजा और मठ-मंदिरों की व्यवस्था इतनी दूषित हो गई थी कि धर्म के नाम पर अधर्म फैल रहा था। मंदिर पूजा के स्थान पर भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गए और देवदासी प्रथा जैसी अनैतिकताएँ धार्मिक आड़ में चलती थीं। साधु-संन्यासी भी भोग-विलास, मद्यपान और लोभ की ओर मुड़ चुके थे। तंत्र-मंत्र और बलि-प्रथा जैसी अनार्य प्रथाएँ धर्म की आड़ में स्थापित हो चुकी थीं जिससे समाज की नैतिक चेतना कमजोर हो रही थी।

(3) अन्य अन्धविश्वासों की स्थिति :- जनता में ज्योतिष, श्राद्ध, ग्रहशांति, व्रत और चमत्कारवाद का अत्यधिक प्रभाव था। पण्डित और तांत्रिक जनता की अशिक्षा का लाभ उठाकर उसे अंधविश्वासों में उलझाए रखते थे। भूत-प्रेत, तंत्र-विद्या, जन्मपत्री और परम्परागत भ्रमों ने धर्म के मूल

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

स्वरूप को विकृत कर दिया था। इस स्थिति ने धार्मिक बुद्धि को अवरुद्ध कर राष्ट्रीय शक्ति को कमजोर किया।

महर्षि दयानन्द ने धर्म में व्याप्त इन विकृतियों को राष्ट्र की सामूहिक चेतना पर प्रहार माना और वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना को एक राष्ट्रीय कर्तव्य समझा। दयानन्द ने निराकार एकेश्वरवाद, वेदाध्ययन, ओम्, गायत्री के आधार पर धार्मिक एकता, तथा अन्धविश्वासों के उन्मूलन को समाज की उन्नति का मार्ग बताया। उन्होंने श्राद्ध, ज्योतिष, मरणोत्सर्ग, तंत्र-कर्म, अवतारवाद और मूर्तिपूजा का तर्कपूर्ण खण्डन कर धर्म को नैतिक, वैज्ञानिक और राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया।

सामाजिक परिस्थितियाँ

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की धार्मिक और सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो चुकी थी। अंग्रेजों का प्रभुत्व जैसे-जैसे बढ़ा, वैसे-वैसे समाज में अज्ञान, अविद्या और धार्मिक मिथ्याचार का प्रसार होता गया। वैदिक ज्ञान की उपेक्षा कर लोग रहस्यवाद, पाखण्ड और अनार्ष ग्रन्थों की ओर झुकने लगे। शिक्षा और धर्म के वास्तविक स्वरूप की अनभिज्ञता ने समाज को अन्धकार में ढकेल दिया, फलत: सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न हो गया।

इस काल की परिस्थितियाँ केवल धर्म-व्यवस्था तक सीमित न रहकर समाज की आर्थिक, धार्मिक और शैक्षणिक संरचना को भी प्रभावित कर रही थीं। शास्त्रीय आधार पर स्थापित जीवन-दृष्टि कमजोर हो चुकी थी और भारतीय समाज दुविधा तथा अन्यायपूर्ण प्रथाओं के बोझ से दबा था। महर्षि दयानन्द इसी वातावरण में वैदिक सिद्धांतों और तर्कसंगत विचारधारा के साथ सामाजिक जागरण की प्रेरणा बनकर उभरे और समाज को पुन: ज्ञान, धर्म और सत्य के पथ पर अग्रसर करने का प्रयास किया।

(1) लोकजीवन की विसंगतियाँ :- उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज जन्मना जाति आधारित विभाजन के कारण अत्यन्त विकृत हो गया था। सहस्त्रों जातियों और उपजातियों में बँटकर समाज एक संगठित शक्ति के रूप में विदेशी आक्रमणों का सामना नहीं कर सका। ऊँच-नीच, छूत-अछूत और जातिगत अहंकार ने सामाजिक एकता को नष्ट कर दिया। दलितों और निम्न वर्ग पर अकल्पनीय अत्याचार होते रहे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - चारों वर्ण अपने वास्तविक गुण से दूर हो चुके थे, और वेदाधिकार केवल उच्च वर्ग तक सीमित रहा। अछूत कहे जाने वाले लोगों की दशा दयनीय थी; वे कुओं से पानी नहीं भर सकते थे, मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकते थे, और दक्षिण भारत में तो उनकी छाया तक को अशुद्ध माना जाता था। शिक्षा का अधिकार भी उच्च वर्ण तक सीमित था, और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव में स्वभाषा की उपेक्षा की जा रही थी। दयानन्द ने जब नाई के हाथ से भोजन स्वीकार किया तो यह जाति-भेद के विरोध का प्रत्यक्ष उदाहरण बना।

(2) महिलाओं की स्थिति :— स्त्रियों की दशा अत्यन्त दु:खद थी। 'स्त्री-शूद्रोनाधीयताम्' जैसी कुप्रचलित अवधारणाओं के आधार पर उन्हें वेदाधिकार से वंचित कर दिया गया, यहाँ तक कि सामान्य शिक्षा भी निषिद्ध हो गई। पर्दा-प्रथा नारी के विकास में प्रमुख बाधा थी, जबकि वैदिक काल में स्त्रियाँ सार्वजनिक जीवन में पुरुषों के समान सहभागिता रखती थीं। सती-प्रथा ने स्त्री के जीवन को और अधिक दयनीय बना दिया; कई स्त्रियाँ पति के मृत शरीर के साथ जला दी जाती थीं, और जो विरोध करतीं, उन्हें

बलपूर्वक चिता पर ढकेल दिया जाता था। यद्यपि राजा राममोहन राय और 1829 के कानून से इस प्रथा को समाप्त किया गया, फिर भी इसका प्रभाव भारतीय समाज में स्त्री की प्रतिष्ठा पर दीर्घकाल तक रहा। कुल मिलाकर स्त्री न तो शिक्षा पा सकी, न स्वतंत्रता, और न ही सम्मान।

(3) बालविवाह और दहेज प्रथा :– उन्नीसवीं सदी के समाज में बालविवाह एक भयंकर कुरीति थी। छोटी उम्र की कन्याओं का जबरन विवाह कर दिया जाता था, जिसके परिणामस्वरूप वे किशोरावस्था तक आते-आते विधवा हो जाती थीं। विधवाओं के लिए पुनर्विवाह निषिद्ध था; उनका जीवन अपमान, उपेक्षा और यातना से भरा था। उनके सिर के बाल मुंडवा दिए जाते, सामाजिक समारोहों में उनका प्रवेश वर्जित था, और उन्हें अशुभ माना जाता था। दहेज-प्रथा ने स्त्री-जीवन को और कठोर बना दिया। दहेज के भार ने कन्या जन्म को शाप बना दिया, और कन्या हत्या जैसी अमानवीय प्रवृत्तियाँ विकसित हो गईं। शिक्षा, अधिकार और सम्मान से वंचित स्त्री समाज के उत्थान में भाग नहीं ले सकी, फलतः समाज की समग्र प्रगति बाधित होती रही।

राजनैतिक परिस्थितियाँ

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त दयनीय और अपमानजनक थी। भारत सदियों से पराधीनता झेलता रहा—पर्शियन, यवन, शक, हूण, तुर्क-अफगान और फिर मुगल—परन्तु अंग्रेजी शासन ने इस दासता को और कठोर रूप दिया। समाज की धार्मिक और सामाजिक दुर्बलता के कारण भारतीय विदेशी शासन का सामना करने में असमर्थ हो चुके थे। अंग्रेजों ने व्यापार के आकर्षण से प्रवेश कर प्रशासन पर अधिकार जमा लिया और भारतीयों का सर्वत्र शोषण किया। यद्यपि 1833 के अधिनियम में उच्च पदों पर किसी जाति, रंग या धर्म से भेदभाव न करने की बात कही गई थी, पर व्यवहार में भारतीयों को सभी उच्च पदों से दूर रखा गया। सम्पूर्ण शासन-तंत्र भ्रष्टाचार और अपमान का केन्द्र बना रहा। दोहरे शासन, निरंकुशता और आतंकपूर्ण प्रशासन में भारतीय अत्यन्त पीड़ित थे। सेना में भी भारतीय सैनिकों को यूरोपियनों से नीचा समझकर कम वेतन और कठोर व्यवहार दिया जाता था।

1857 का संग्राम राष्ट्रीय चेतना का प्रथम स्वरूप था, परन्तु राष्ट्रीय एकता के अभाव, युद्धनीति की कमजोरी और अंग्रेजों को कुछ भारतीय जातियों का समर्थन मिलने के कारण वह सफल नहीं हो सका। इसके परिणामस्वरूप मुगल साम्राज्य का अंत हुआ और भारत पर पूर्ण ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो गई। ब्रिटिश शासन में कठोर कर-व्यवस्था ने गरीब भारतीयों को भूखा रहने पर मजबूर किया; नमक जैसे आवश्यक पदार्थों पर कर लगाकर जनता को परेशान किया गया। भारत का आर्थिक शोषण कर अंग्रेज अपने उद्योगों को समृद्ध कर रहे थे।

भारतीय संस्कृति, धर्म और भावना पर अंग्रेजी सभ्यता के प्रहार निरन्तर जारी रहे। ईसाई धर्म का प्रचार हुआ, भारतीय धर्म और मूल्य पर अपमानजनक टिप्पणियाँ की गईं, यहाँ तक कि हिंदू और मुसलमानों में फूट डालकर सामाजिक विघटन उत्पन्न किया गया। इन परिस्थितियों में दयानन्द केवल एक धार्मिक सुधारक या समाज-सुधारक नहीं रहे, बल्कि एक दूरदर्शी राजनीतिक चिन्तक भी बनकर उभरे। उन्होंने समझ लिया था कि जब तक देश में राष्ट्रीयता की भावना विकसित नहीं होगी, तब तक स्वाधीनता सम्भव नहीं। उन्होंने स्वदेशी, स्वभाषा, स्वधर्म और स्वशासन की स्पष्ट आवाज बुलंद की। उनके 'भारत भारतीयों के लिए ' और 'वेदों की ओर लौटो' जैसे उद्घोष भारतीय राजनैतिक चेतना की दिशा तय करने वाले सिद्ध

हुए।

दयानन्द ने यह भी स्पष्ट किया कि सच्चा सुशासन स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता। उनके राजनीतिक विचारों ने आने वाली पीढ़ी को स्वराज्य, स्वाभिमान और राष्ट्रीय एकता का आधार प्रदान किया।

भारत-स्वतन्त्रता के प्रेरक ऋषि दयानन्द

महर्षि दयानन्द उस युग में प्रकट हुए जब भारत सामाजिक-धार्मिक अन्धकार, राजनीतिक दासता और मानसिक गुलामी से ग्रस्त था। ऐसे कठिन समय में उन्होंने स्वराज्य, स्वभाषा, स्वधर्म और राष्ट्रीय उत्थान की जिस चेतना को जगाया, वही आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की मूल प्रेरणा बनी।

सर्वप्रथम, उनके जीवन और विचार पूर्णत: राष्ट्रीय थे। आर्यसमाज की स्थापना और 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना द्वारा उन्होंने वैदिक मूल्यों पर आधारित स्वाभिमानी, संगठित और जाग्रत समाज का स्वरूप प्रस्तुत किया—एक ऐसा समाज जो विदेशी शासन को सहज स्वीकार न करे। उनके गुरु, स्वामी विरजानन्द से शिक्षा पाकर वे जब देशसेवा हेतु निकले, तब भी अपने जन्मस्थान का उल्लेख टालते रहे ताकि पारिवारिक आग्रह उन्हें पुन: लौटा न ले और उनका राष्ट्रधर्म अधूरा न रह जाए। यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि उनके हृदय में प्रारम्भ से ही देशोद्धार और जनकल्याण के प्रति गहरी तपस्या थी। ओखी मठ के महन्त द्वारा उन्हें महाधीश बनाने का प्रस्ताव भी उन्होंने ठुकरा दिया। धन-वैभव त्यागकर उन्होंने कहा कि यदि मुझे धन की इच्छा होती तो मैं अपने पिता की समृद्ध संपत्ति ही न छोड़ता। उनके लिए श्रेष्ठ उद्देश्य केवल यह था कि वे अपने देश-वासियों का उपकार करते रहें। यही भावना उन्हें राष्ट्रीय पुनर्जागरण का प्रथम दीपक बनाती है।

दयानन्द के कार्यों और विचारों का प्रभाव इतना व्यापक था कि अनेक विद्वानों ने उन्हें स्वतंत्र भारत का वास्तविक शिल्पकार बताया है। प्रशान्त वेदालंकार ने डी. बैब्ले का मत उद्धृत किया कि वर्तमान स्वतंत्र भारत की आधारशिला दयानन्द ने ही रखी। रोम्यां रोला ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण की प्रबल शक्ति के रूप में उनका नाम लिया। मैडम ब्लैवात्स्की ने स्वीकार किया कि 'भारत भारतीयों का है' का नारा सर्वप्रथम दयानन्द ने दिया। सर वेलेन्टाइन चिरौल ने उनके उपदेशों को विदेशी प्रभुत्व के विरोध की ठोस भूमिका बताया। दादा भाई नैरोजी ने तो स्पष्ट कहा कि 'स्वराज्य' शब्द उन्होंने सबसे पहले दयानन्द के ग्रंथों से सीखा।

गुरु विरजानन्द से देशोन्नति की शिक्षा

महर्षि दयानन्द ने 14 नवम्बर 1860 को विरजानन्द दण्डी से दीक्षा लेकर केवल शास्त्रीय शिक्षा ही नहीं, बल्कि देशोद्धार का स्पष्ट संदेश पाया। गुरु-शिष्य संवाद में भारत की दीन दशा और कुरीतियों का विषय बार-बार आता रहा। जब शिक्षा पूर्ण होने पर वे गुरु-दक्षिणा देने लगे तो विरजानन्द ने धन नहीं, बल्कि भारतीय समाज के सुधार को ही अपनी दक्षिणा घोषित किया। यह क्षण दयानन्द के जीवन में वह आधार बना, जहाँ से देश-उन्नति की उनकी प्रतिज्ञा जन्मी।

इसके पश्चात महर्षि ने आजीवन राष्ट्रहित को अपना कार्य माना। समर्थदान को लिखे पत्रों में उन्होंने स्वीकार किया कि वे पुनर्जन्म तक देश की उन्नति के लिए कार्य करते रहेंगे और कश्मीर से कन्याकुमारी तक आर्यों के एक राज्य की कल्पना ने उनके राष्ट्रीय स्वप्न को प्रकट किया। समाज की दुर्दशा—विधवाओं की पीड़ा, अनाथों की करुण पुकार, और गोवध—इन सब से उनका हृदय विदीर्ण रहता था। कई बार वे

भोजन तक छोड़ देते, और समाज की उपेक्षा देखकर वे अत्यन्त दु:खी हो जाते थे।

देशहित की उपयोगिता समझाते हुए उन्होंने मंदिरों में व्यर्थ धन लगाने की आलोचना की और उस धन से शिल्पकला अथवा उपयोगी संस्थान स्थापित करने को लोकहितकारी बताया। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय निर्माण का वास्तविक स्वरूप था।

आर्यसमाज की स्थापना (10 अप्रैल 1875) इसी भावना का प्रत्यक्ष परिणाम थी। समाज के नियमों में प्रयोजन स्पष्ट था—स्वदेश की उन्नति, कुरीतियों का निवारण, आचार और व्यवहार की शुद्धि तथा मानव समुदाय का कल्याण। इन्हीं सिद्धांतों के व्यावहारिक रूप से लागू होने पर ईसाई मिशनरियों का प्रभाव घटा, नवयुवकों में स्वाभिमान जागा, तथा समाज-सुधार की ठोस नींव पड़ी।

महर्षि ने देशहित में लड़कियों को मजहबी परिवर्तन से बचाया, अछूतों का उद्धार किया, धार्मिक एकता का आदर्श प्रस्तुत किया, और समाज में स्वतंत्रता की भावना जागृत की। उनकी मृत्यु के बाद भी आर्यसमाज राष्ट्र के लिए संघर्ष करता रहा और अनेक स्वतंत्रता सेनानियों ने उनसे प्रेरणा प्राप्त की।

भारतीय राष्ट्रवाद का पुनरुत्थान

उन्नीसवीं शताब्दी भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ थी। इसी काल में ब्रिटिश शासन मजबूत हुआ, कम्पनी शासन से ब्रिटिश क्राउन की सत्ता आई, और सांस्कृतिक आक्रमण के कारण भारतीय समाज अपनी पहचान खोने लगा। इस समय बंगाल के कई सुधारकों ने पुनर्जागरण की शुरुआत की, पर उनका प्रभाव क्षेत्र सीमित ही रहा। इसी परिस्थिति में महर्षि दयानन्द का उदय हुआ, जिन्होंने सामाजिक और धार्मिक सुधारों के साथ राष्ट्रवाद की स्पष्ट दिशा प्रदर्शित की।

वे केवल सामाजिक कुरीतियों से ही नहीं, बल्कि विदेशी सांस्कृतिक प्रभाव से भारत को बचाने के लिए भी चिंतित थे। बंगाल के सुधारकों में यह दृष्टि नहीं दिखाई दी, जबकि दयानन्द ने सांस्कृतिक पुनरुद्धार को राष्ट्र की आवश्यक शर्त माना। उन्होंने स्वराज्य को विदेशियों के राज्य से श्रेष्ठ बताते हुए स्पष्ट कहा कि स्वदेशीय शासन ही वास्तविक सुखदायक होता है।

महर्षि दयानन्द यह देखकर विचलित हुए कि स्वर्णभूमि कहलाने वाला भारत पराधीन और पतनशील हो गया है। इसलिए उन्होंने स्वाभिमान, एकता और सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकता को रेखांकित किया। उन्होंने बताया कि जब तक जनता समान भाषा, समान विचार और समान कर्तव्यबोध से नहीं जुड़ेगी, राष्ट्र की प्रगति सम्भव नहीं। वे स्वभाषा, स्वदेशी, स्वसंस्कृति और सत्याग्रह के मूल्यों को जनमानस में स्थापित करते रहे।

महर्षि जानते थे कि सामाजिक सुधार के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता भी संभव नहीं। इसलिए वे सक्रिय राजनीति में न आकर लोगों को स्वाधीनता के योग्य बनाने में लगे रहे। उन्होंने वेदों एवं आर्य ग्रंथों पर आधारित राजनीति-चिंतन प्रस्तुत किया, जिसमें लोकसत्ता, प्रजातंत्र और न्यायपूर्ण राजव्यवस्था स्पष्ट थी। उल्लेखनीय बात यह थी कि इन विचारों पर किसी पाश्चात्य चिंतन का प्रभाव नहीं था, बल्कि वे भारतीय मूल्यों से प्रेरित थे।

उनकी दृष्टि में भारत एक प्राचीन, संस्कारित और संपन्न देश रहा है, जिसे उसके गौरव-स्थल पर पुन: स्थापित करना ही राष्ट्रवाद का सच्चा स्वरूप था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि महर्षि दयानन्द ही

वे प्रथम चिन्तक थे, जिन्होंने सांस्कृतिक चेतना को राष्ट्रीय पुनरुत्थान का आधार बनाया और आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का स्पष्ट सूत्र प्रस्तुत किया।

वर्ण व्यवस्था

महर्षि दयानन्द ने वर्णाश्रम-व्यवस्था को जन्मजात विभाजन मानने की परंपरागत धारणा का विरोध किया और इसे गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर निर्धारित किया। उनके अनुसार कोई व्यक्ति किसी भी कुल में जन्म लेने पर भी अपने गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार किसी भी वर्ण में गिना जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि शूद्र कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के समान गुण और कर्म धारण करे, तो वह उच्च वर्ण में गिना जाएगा। इसी प्रकार, ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति यदि शूद्र समान गुण-कर्म रखे, तो वह शूद्र में गिना जाएगा।

महर्षि दयानन्द ने धर्माचरण और सदाचार के माध्यम से किसी निम्न वर्ण का उच्च वर्ण में आना संभव बताया, और विपरीत रूप से, निकृष्टाचरण उच्च वर्ण को नीच वर्ण में ले जा सकता है। गुण और कर्म के आधार पर वर्ण परिवर्तन से समाज में प्रयास और सुधार की प्रवृत्ति बढ़ती है। नीच वर्ण में जन्मे व्यक्ति में सुधार और उत्थान की प्रेरणा पैदा होती है, जबकि उच्च वर्ण में जन्मे व्यक्ति अपने उच्चतम स्थान को बनाए रखने के लिए उत्तम कर्म करता है।

महर्षि दयानन्द का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था होने से पक्षपात नहीं होता, सभी वर्ण उत्तम बनने का प्रयत्न करते हैं और उत्तम बने रहते हैं। उच्च वर्ण व्यक्ति यह भय रखते हैं कि मैं नीच न हो जाऊँ, इसलिए बुरे कर्म छोड़कर केवल उत्तम कर्म करते हैं। इस प्रकार समाज की बड़ी उन्नति होती है। उनके अनुसार वर्ण केवल जन्म से नहीं, बल्कि कर्म, गुण और सदाचार से तय होता है, जिससे समाज में नैतिक सुधार और व्यक्तिगत तथा सामूहिक विकास संभव होता है।

वर्णों के गुण-कर्म

महर्षि दयानन्द ने वर्णाश्रम व्यवस्था को जन्म पर आधारित मान्यता से अलग कर, गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र केवल जन्म से नहीं, बल्कि अपने गुण, कर्म और स्वभाव से निर्धारित होते हैं। इस दृष्टिकोण ने समाज में व्यक्तियों के प्रयास और नैतिक सुधार को प्रोत्साहित किया।

ब्राह्मण :- ब्राह्मण को समाज में श्रेष्ठ माना गया और उनके कर्तव्य अध्ययन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह और अपने व्यवहार से समाज को दिशा देने तक विस्तृत किए गए। महर्षि ने ब्राह्मणों के लिए शम, दम, तप, शौच आदि नौ कर्मों का विधान किया, जिससे वे अपने गुणों और संस्कारों के माध्यम से समाज में आदर्श प्रस्तुत करें।

क्षत्रिय :- क्षत्रियों का कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना, न्याय और निष्पक्षता के साथ धन और विद्या का प्रयोग करना, युद्ध में शौर्य दिखाना और शास्त्रों के अध्ययन के साथ बल, धैर्य और दानशीलता का पालन करना निर्धारित किया गया। महर्षि ने क्षत्रियों के लिए ब्रह्मचर्य और अग्निहोत्र यज्ञ का आयोजन भी अनिवार्य ठहराया।

वैश्य :- वैश्य का कार्य समाज में व्यापार और धन संचय से जुड़ा था। वे वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करें, अग्निहोत्र यज्ञ और दान करें तथा पशुधन का संवर्धन करें। वैश्य का व्यवहार समाज की आर्थिक स्थिरता और व्यापारिक व्यवस्था पर निर्भर था।

शूद्र :- शूद्र समाज का वह वर्ग है जो अन्य तीन वर्णों के कार्यों में सहायता करता है। उनका कर्तव्य निन्दा, अभिमान और ईर्ष्या से दूर रहकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना था। महर्षि दयानन्द ने शूद्रों को भी वेदाध्ययन और शिक्षा के अधिकार देने की वकालत की, ताकि वे अपने जीवन और समाज में उन्नति कर सकें।

महर्षि ने यह सुनिश्चित किया कि प्रत्येक वर्ण अपने गुण और कर्म के अनुसार कार्य करें और नीच वर्ण में न गिरे। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य समाज में नैतिक सुधार, प्रयासशीलता और समृद्धि लाना है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने वर्णाश्रम-व्यवस्था को गुण-कर्म आधारित और व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत कर इसे वैज्ञानिक आधार प्रदान किया, जिससे समाज का सर्वांगीण विकास संभव हो सके।

आश्रम व्यवस्था

महर्षि दयानन्द ने आश्रम व्यवस्था को समाज के सुव्यवस्थित और संतुलित जीवन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना। उन्होंने जीवन को चार कालक्रमिक आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—में विभक्त किया। प्रत्येक आश्रम का उद्देश्य व्यक्ति के विकास और समाज की उन्नति में योगदान देना है।

ब्रह्मचर्य आश्रम :- ब्रह्मचर्याश्रम पाँच से पच्चीस वर्ष की आयु तक का काल है, जिसमें व्यक्ति शिक्षा, शील, ज्ञान और गुणों के विकास पर ध्यान केंद्रित करता है। महर्षि दयानन्द ने इसे सभी आश्रमों का आधार माना, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम की पूर्णता पर ही गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की सफलता निर्भर करती है। इस काल में उपनयन संस्कार के पश्चात् ज्ञानार्जन, व्यक्तित्व निर्माण और व्यवहार कुशलता का विकास होता है।

गृहस्थ आश्रम :- गृहस्थाश्रम पच्चीस से पचास वर्ष तक का होता है और इसमें व्यक्ति परिवार की रक्षा, पालन-पोषण और धनोपार्जन करता है। इस आश्रम में दम्पत्ति के लिए समान गुण, परस्पर स्नेह और प्रियाचार का पालन आवश्यक है। महर्षि दयानन्द ने गृहस्थाश्रम को समाज का सबसे प्रतिष्ठित आश्रम माना, क्योंकि इसी आश्रम से अन्य आश्रमों का अस्तित्व और सुख सुनिश्चित होता है।

वानप्रस्थ आश्रम :- वानप्रस्थाश्रम गृहस्थ आश्रम के पश्चात् सांसारिक मोह और बंधनों से दूर रहकर ईश्वर की उपासना, एकान्त जीवन और साधना का काल है। महर्षि ने वानप्रस्थी के लिए स्वाध्याय, पंचमहायज्ञ, दान, जितेन्द्रियता और सर्वत्र मैत्री तथा दया की अपेक्षा की है। इस आश्रम में व्यक्ति अपने स्वभाव को उदार, निर्वैर और समस्त प्राणियों के हितकारी बनाता है।

संन्यास आश्रम :- संन्यासाश्रम जीवन का अंतिम चरण है, पचहत्तर वर्ष से अधिक की आयु के लिए। इसमें व्यक्ति पूर्ण वैराग्य, धर्माचार्य, वेदादि शास्त्रों का प्रचार और सत्योपदेश करने वाला बनता है। संन्यासियों का कर्तव्य केवल व्यक्तिगत मोक्ष ही नहीं, बल्कि समाज की उन्नति और धर्म की वृद्धि में प्रयत्न करना भी है।

अतः महर्षि दयानन्द की आश्रम व्यवस्था केवल व्यक्तिगत जीवन की श्रेष्ठता के लिए नहीं,

बल्कि समाज और राष्ट्र की समग्र उन्नति के लिए भी मार्गदर्शक सिद्ध होती है। यह जीवन पद्धति व्यक्ति और समाज दोनों को नैतिक, सांस्कृतिक और आत्मिक रूप से सुदृढ़ करती है और विकास तथा प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि महर्षि दयानन्द ने 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन, सामाजिक कुरीतियों और राष्ट्रीय अव्यवस्था के समय भारतीय समाज और राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान का मार्गदर्शन किया। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना कर सत्यार्थ प्रकाश जैसे ग्रंथों के माध्यम से देशवासियों में स्वदेश, स्वधर्म, स्वसंस्कृति और स्वराज्य की चेतना जगाई। वर्णाश्रम में उन्होंने जन्म नहीं, बल्कि गुण और कर्म के आधार पर वर्ग निर्धारण किया। ब्राह्मण को शिक्षा और धर्म, क्षत्रिय को राज्य और रक्षा, वैश्य को व्यापार और शूद्र को सेवा का कार्य दिया। आश्रम व्यवस्था में जीवन को चार चरण—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—में व्यवस्थित कर शिक्षा, परिवार, साधना और धर्म प्रचार पर बल दिया। महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण धर्म, समाज और राष्ट्रवाद को जोड़कर व्यक्तिगत और सामूहिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने वाला था।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *सत्यार्थ प्रकाश – महर्षि दयानन्द सरस्वती, आर्यसमाज प्रकाशन, दिल्ली, 1875*
2. *दयानन्द सरस्वती: चरित्र और विचार – रामनाथ वेदालंकार, हिंदुस्थान प्रकाशन, लखनऊ, 1954*
3. *महर्षि दयानन्द और आर्य समाज – योगेश्वरानन्द, आर्य समाज पब्लिकेशन, अजमेर, 1960*
4. *महर्षि दयानन्द सरस्वती – जीवन और दर्शन – श्यामसुन्दर दास, संस्कृत विश्वविद्यालय पब्लिकेशन, बनारस, 1942*
5. *स्वामी दयानन्द सरस्वती जीवन-चरित – श्रीराम शर्मा आचार्य, आर्य भारती प्रकाशन, दिल्ली, 1968*
6. *आर्य समाज का इतिहास – लक्ष्मीनारायण वैद्य, आर्य समाज प्रकाशन, मुंबई, 1965*